International Research Vision (Int. Res. Vn.)
ISSN: 2454-3721
Volume 3 Issue 1: 1-3, 2017

क्षेमेन्द्र की कृतियों में मध्यकालीन काश्मीर का सांस्कृतिक जीवन

राजेश कुमार राय
शोध छात्र, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, ल. ना. मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा–846004

सारांश

मध्यकाल तक आते–आते भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य कई मायने में बदलाव का संकेत करता है। काश्मीर की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। यहाँ के लोग अपनी आचार परम्परा को भूलने लगे थे। क्षेमेन्द्र की कृतियों से ज्ञात होता है, पारम्परिक रूझान वाले परिवार से सम्बद्ध थे।

शीर्षक विश्लेषण

हिन्दू धर्म और संस्कृति के पल्लवन में इनके पूर्वजों ने बढ़चढ़ कर भाग लिया था। परन्तु कुछ ही दशक बाद जिस तरह का सांस्कृतिक प्रदूषण फैला उसे कोई विचारवान व्यक्ति सहन नहीं कर सकता था। हमें इसका एहसास होना चाहिए कि एक ऐसा समाज जहाँ आचार विचार– ये दोनों भ्रष्ट हो जायें तो फिर वहाँ नैतिकता के मायने ही बदल जाते हैं। क्षेमेन्द्र का आविर्भाव एक तरह से पतन्नोमुख समाज के भीतर अवश्य हुआ था बावजूद इसके उनकी संवेदनशीलता पूरी तरह से चूकी हुई नहीं थी। उन्हें यह देखकर बहुत दुःख होता था कि काश्मीर का एक–एक व्यक्ति क्षणिक भोग के पीछे भागता जा रहा था। कलाविलास, दर्पदलन, देशोपदेश और नर्ममाला में उन सभी दुःखदायी परिस्थितियों का चित्रण हुआ है जिनके हावी होने पर काश्मीर की सामाजिक समरसता ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक गरिमा भी चोटिल हो रही थी। सुरा–सुन्दरी अथवा धन का लोभ देकर किसी भी व्यक्ति के ईमान को डिगाया जा सकता था। ऐसा लोग भी कम नहीं थे जो जिस डाल पर बैठे थे उसे ही काट देने के लिए उतावला हो रहे थे। लोभ और स्वार्थ इस सीमा तक बढ़ा कि पुत्र ही पिता को पहचानने से इन्कार कर देता था। सत्ता से चिपके हुए लोग अपने आगे किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। हालत इतनी खराब हो गयी थी कि पूरे काश्मीर में ईमानदार और अपनी अपनी सांस्कृतिक प्रतिबद्धताओं के कायल लोगों को सरेआम अपमानित होना पड़ता था। समाज से लेकर राजनीति के गलियारे तक में दम्भी, प्रपंची और छली लोगों की ही पूछ हो रही थी। किसी के उपर कुलाभिमान का नशा तारी था तो कई लोग ऐसे भी थे जो अपने रूप, विद्या, शौर्य और धन के कारण मदान्ध हो चुके थे। सामाजिक समरसता के दिन लद गये थे। आचार का लोप होने से समाज में तनाव बढ़ता ही जा रहा था। सार्वजनिक जीवन में भेदभाव का जहर बड़ी तेजी से घुलता जा रहा था। शासन एक तरह से निरपेक्ष था तो दूसरे लोग भी व्याप्त अनाचार को रोकने के लिए आगे नहीं आ रहे थे।

हमारे सामने क्षेमेन्द्र समाज सुधारक अथवा आचार नियमों के ध्वजवाहक के रूप में खड़े दिखाई नहीं देते। शासन में उनकी पहुँच थी फिर भी अनाचार में संलग्न लोगों के लिए उन्होंने कहीं कोई दण्ड अनुशंसित किय है– यह बात कहीं से प्रमाणित नहीं होती। वे जिस आचारशुचिता की बात करते हैं उसका काश्मीरी समाज में कहाँ तक पालन होता था– इस संबंध में भी पक्के तौर पर कुछ कहने की स्थिति नहीं है। बावजूद इसके पतन्नोमुख समाज के उद्धार के लिए जिस तरह का आचार वांछनीय समझा जाता है उसे पारम्परिक और शास्त्रसम्मत मानने में कहीं कोई विरोध नहीं है। चारूचर्या में जितने तरह के आचार वर्णित है उन्हें धर्मशास्त्रों में वर्णित आचारपद्धति से बहुत भिन्न नहीं कहा जा सकता। काश्मीरियों के बीच तेजी से आचार का क्षरण हो रहा था उसे फिर पुनर्जीवित करना ही क्षेमेन्द्र की कृतियों का मूलोद्देश्य प्रतीत होता है।

चारूचर्या का आरम्भ ही इस नीति वाक्य से होता है कि लक्ष्मीवान बनने सत्य के प्रति आग्रह स्वर्ग का लाभ, विजय और तीनों ही लोक में बन्दित होने के पीछे क मूल कारण कुछ और नहीं बल्कि सदाचार ही हुआ करता है। यह नहीं तो फिर जीवन की सारी की सी उपलब्धियाँ दो कौड़ी की हो जाती है।[1] आचार का प्रथम सोपान आलस्य का त्याग है। ब्रह्म वेला में शय्या का त्याग कर देने वाला व्यक्ति ही लक्ष्मीवान बना करता है। गुण–कर्म का आश्रय पाकर ही लक्ष्मी स्थायित्व को प्राप्त करती है।[2]

निर्मल स्नान से शरीर पवित्र होता है। परन्तु इसके लिए समय का विचार किया जाना जरूरी है। आकाल अर्थात् समय प्रतिकूल हो तो स्नान तन, मन दोनों को दूषित कर देता है। इससे संबंधित पौराणिक आख्यान यही रहा है कि राक्षस राज वृत्र का वध तन–मन के अपवित्र हो जाने पर ही हुआ था।[3] क्षेमेन्द्र के पूर्वज शिवोपासक के रूप में प्रसिद्ध थे। पूरा का पूरा काश्मीर उनकी इस अटूट भक्ति से प्रभावित था। कोई भी नित्य कर्म शिवाराधन के बिना पूरा नहीं होता था।[4] हिन्दुओं के यहाँ श्राद्धकर्म का बहुत ज्यादा महत्व था। इके लिए स्थान नियत था और इससे भी बड़ी बात यह कि कर्त्ता स्वयं अपने हाथों से पिण्डदान किया करता था। शास्त्र विपरीत श्राद्ध का कोई फलाफल नहीं निकलता था।[5] आचार नियमों के पालन में सावधानी बरतने की जरूरत है। उत्तर या पश्चिम की ओर सिर रखकर सोना चाहिए। शय्या की दिशा के उलट जाने के कारण ही इन्द्र ने अदिति के गर्भ को नष्ट कर डाला था।[6]

भारतीय संस्कृति में अतिथियों के स्वागत सत्कार का बहुत ही महत्व रहा है। दरवाजे के सामने भूखा प्यासा खड़ा हो तो उसे अन्न जल ग्रहण कराने के बाद ही अपनी क्षुधा शान्त की जानी चाहिए। गृहस्थ जीवन में इससे बढ़कर कोई दूसरा सदाचार नहीं होता। क्षेमेन्द्र के कथन का यही अभिप्राय है कि आतिथ्य सत्कार किये बगैर अन्नजल का ग्रहण एक तरह से मांस भक्षण के समान है।[7] जप–होम की क्रिया के प्रारम्भ के पूर्व पाद का प्रक्षालन जरूरी है। यह पवित्र नहीं हुआ तो क्रियायें स्वतः दूषित हो जाती है। राजा नल यहीं पर चूक गये थे। चूँकि उनका तन–मन अपवित्र था अतः कलि की छाया से वे बच नहीं पाये। उनका जीवन जितनी तरह की त्रासदियों से गुजरा वे तन–मन को तोड़ देने वाली थीं।[8] बृहत्कथा में यह प्रसंग चर्चित हुआ है कि वासना में उलझा हुआ मनुष्य गमनागमन के चक्र से कभी मुक्त नहीं होता। एक शरीर के बदलते हीं उसका दूसरा बनकर खड़ा हो जाता है। शुभ–अशुभ कर्म ही उसकी गति को निर्धारित किया करते हैं। देहान्तर का मतलब यह नहीं कि कर्म का क्षय सदा के लिए हो गया। कदाचित् गोदान या स्वर्णदान करके कोई कर्म के फल के मिटाना चाहे तब भी उसका यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। वास्तविक मुक्ति उस योग में है जिसमें जप और ध्यान का मेल रहा करता है।[9] दुर्लभ से दुलर्भ वस्तु को भी यही सहज बना देता है। परन्तु जप करते समय स्व एवं परकल्याण की भावना को सामने रखना जरूरी है। इसी से वांछित फल की प्राप्ति हो सकती है।[10]

बृहत्कथा से यह संकेतित जरूर होता है कि मध्यकाल तक आते आते बौद्ध यद्यपि अपने ही दायरे में सिमट गये थे फिर भी उनका मूलोच्छेद नहीं हुआ था। हिन्दू धर्म और संस्कृति का स्वरूप भी पहले जैसा नहीं रह गया था। इन दानों ही धर्मों के बीच सदियों से चला आ रहा जो वैचारिक मतभेद था उसकी अनुगूंज अब भी सुनाई दे रही थी। बौद्धों की आचार प्रणाली में जाति और वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। यही कारण था ये हिन्दूओं के लिए कभी भी सहज भाव से स्वीकार्य नहीं हो सके थे। मध्यकाल में स्थिति यह हो गयी कि सहज भाव में जीने वाले बौद्ध दम्भी हो गये थे। यू धूर्त्तों के सिरमौर कहे जाते थे। विवेकी और बुद्धिमान लोगों की इनमें जरा भी श्रद्धा नहीं थी।[11] इस तरह प्रतिकूल टिप्पणी कोई और नहीं बल्कि कथा के एक पात्र द्वारा ही की गयी है। अलबत्ता क्षेमेन्द्र की अन्य कृतियों में बौद्धों के विरोध में कहीं कोई खास तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की गयी है। काश्मीर की घाटी में बौद्ध धर्म और संस्कृति का जिस तरीके से विकास हुआ था उसकी एक अलग ही कहानी है। बोधिसत्त्वावदान में क्षेमेन्द्र महायानियों की विश्वव्यापी करूणा की जमकर प्रशंसा करते हुए देखे जा सकते हैं।

क्षेमेन्द्र के अनुसार हमारी दैनिक चर्यायों को भी आचार के अंग के रूप में ही परिगणित किया जाना चाहिए। रात के गहराती पहर में घर से निकल जाना निरापद नहीं होता। माण्डव्य ऋषि को इसी कारण से चोर समझ कर शूली पर लटकाने का फरमान जारी हुआ था। इस तरह जब एक विरागी के जीवन पर संकट आ सकता है तो फिर साधारण मनुष्य के बारे में क्या कहा जाय ?[12] लम्पट चरित्र वाले व्यक्ति का जीवन कभी भी क्षय को प्राप्त कर सकता है। परस्त्री गमन घोर पाप है। ऐसे लोग जो स्त्री के ऊपर आँखमूंद विश्वास करते है वही ठगे गये। सीताहरण से ही रावण के वध का रास्ता खुला था। विदूरथ की हत्या में उसी की पत्नी सहभागिनी बनी थी। ये तमाम ऐसे दृष्टान्त हैं जिनको देखकर यह समझा जा सकता है कि स्त्री का आकर्षण मनुष्य को कहाँतक तंग और बेहाल कर देने का मूल कारण बन जाता है।[13] मदिरा के सेवन से कोई एक तरह का दोष उत्पन्न नहीं होता। धन का नाश तो होता ही है, सामाजिक मर्यादा भी भग्न हो जाये तो बहुत अप्रत्याशित बात नहीं। इसका नशा चढ़ते ही

आदमी बेताल की तरह नाचने लगता हैं वह किसी के काबू में नहीं रहता। भारत जैसे देश में मदिरा पान ने जो भीषण तबाही मचायी थी उससे बहुत कुछ निर्मूल हो गया था। वृष्णियों के समूल नाश में यही मदिरा निमित्त बनी थी। नशा में झूमते हुए इन्होंने अपने ही वंशधरों पर प्रहार करना शुरू कर दिया था। लोहे का मसूल ही उनके लिए प्राणघातक बना। तात्पर्य यह कि एक मदिरा ने अकेले ही उन्हें इस सीमा तक रक्त पिपासु बना दिया था कि वे अपने पराये का भेद ही भूल गये थे।[14]

सामाजिक दायरे में रहते हुए आचार की प्रासंगिकता समाप्त नहीं होती। लोगों के बीच कलह के बीज का वपन करके हम चैन के साथ जी नहीं सकते। ईर्ष्या के कारण ही कलह का जहर फैलता है। अतः क्षमाशील बनकर रहने में ही सुख एवं ऐश्वर्य की कामना फलीभूत हो सकती है। ईर्ष्या जैसा दोष जीवन में ठहराव नहीं लाता। राजा जन्मेजय कभी इसीर के कारण ब्राह्मणों द्वारा शापित हुए थे।[15] ईर्ष्या के मूल में कहीं न कहीं हिंसा का भाव ही छुपा रहता है। किसी की हानि कैसे हो–यही इसका मूलमंत्र हुआ करता है। धन–जन की हानि से लेकर अवमानना तक में ईर्ष्या ही किसी न किसी रूप में निमित्त हुआ करती है। अतः इसका त्याग करके मन को निर्मल बनाये जाने का सतत् प्रयास होना चाहिए। बृहत्कथा में आचार से बढ़कर किसी दूसरी चीज को प्राथमिकता नहीं दी गयी है। धर्म को कोई खास तरह का लक्षण नहीं होता। अहिंसा ही बढ़कर न तो धर्म है और न सन्यास से श्रेष्ठ कोई दूसरा धन। किसी दीन दुःखी के प्रति यह जो करूणा का भाव है उसी से मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता को प्रमाणित कर सकता है। लेदेकर क्षमा से मोक्ष को पाना सरल हो जाता है। मंतव्य यही कि जिसके हृदय में सभी जीवों के प्रति क्षमा का भाव है, उसी के उपर पुण्य की अमृत वर्षा होती है। जहाँ सभी के लिए मैत्री भाव को छोड़ कुछ और नहीं उस व्यक्ति के लिए मरूस्थल जैसा यह संसार शीतल जलधारा के समान हो जाता है।[16] क्षेमेन्द्र मानते हैं कि विपत्तियाँ धीर व्यक्ति को धर्म से च्युत नहीं कर सकती। राजा हरिश्चन्द्र ने धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही चाण्डाल की दासता स्वीकार की थी।[17]

संदर्भ सूची

1. श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः। जयत्यात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः।। चारूचर्या–01, ई0वी0 राघवाचार्य सं0 संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
2. चारूचर्या–02, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
3. चारूचर्या–03, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
4. चारूचर्या–04, ई, वी, राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
5. चारूचर्या–05, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
6. चारूचर्या–06, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
7. चारूचर्या–07, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी, ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
8. जपहोमार्चनं कुर्यात् सुधौतचरणः शुचिः। पादशोचविहीनं हि प्रविवेश नलं कलिः।। वही–08
9. .....जनध्यानमयं योग राजेन्द्र भज साम्प्रतम्। भोगापवर्ग संकल्प कल्पवृक्षो यतो जपः।। बृहत्कथा षष्ठ ल.–78–80 ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत, अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
10. इज्येवं जप योगेन दुर्लभं प्राप्यते नृप। तस्माद् भवानपि क्षिप्रं जपतां जपमुत्तमम्।। वही–97
11. जाव्याचार विहीनानां दम्भमीलित चक्षुषाम्। भिक्षूणां धूर्त धुर्याणां धीभरन्को नाम विश्वसेत्।। वही–98
12. चारूचर्या–09, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
13. चारूचर्या–10, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
14. चारूचर्या–11, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
15. चारूचर्या–12, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961
16. क्षमैव सर्वसत्त्वानां पुण्यापीयूषवाहिनी। मैत्री च सर्वभूतेषु संसारमरूवारिदः।।
17. बृहत्कथा। सं. ल.–93–94, ई. वी. राघवाचार्य सं. संस्कृत अकादमी ओसमानिया यूनिवर्सिटि, हैदराबाद, 1961